

श्रीमद्भगवद्गीता और सामाजिक समानता

डॉ. रीजा
सहायक प्रवक्त्री (संस्कृत विभाग)
दयानन्द महिला महाविद्यालय
कुरुक्षेत्र, हरियाणा, भारत
ई-मेल: reeja.skt17@gmail.com
दूरभाष: 8168196003

श्रीमद्भगवद्गीता समस्त विश्व-साहित्य का अनुपम ग्रन्थ है। विश्व की लगभग सभी भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। भगवद्गीता महाभारत-संहिता के भीष्मपर्व के अध्याय 23-40 तक सात सौ श्लोकों का संग्रह है। इस ग्रन्थ में ब्रह्मांड की समस्त रचनाओं व सभी प्राणियों की समानता पर चर्चा की गयी है। मनुष्य स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी है। परन्तु वह आज अपने जीवन की विविध समस्याओं में इस प्रकार उलझ गया है कि वह स्वयं के विषय में भी किंकर्तव्यविमूढ है। भगवद्गीता का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य यही है कि इसकी उपयोगिता प्रत्येक काल में रही है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अनेक बार समत्व भाव समानता का भाव, समत्व-दृष्टि और समत्व-बुद्धि की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। समत्व या समानता को समझना आसान है लेकिन आत्मसात करना अत्यन्त कठिन है। हमारे समाज में समत्व को सभी नागरिकों के लिए कानून के समक्ष समानता के रूप में स्वीकार किया है। भगवद्गीता में समानता के अनेक उदाहरण मिलते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण सुख और दुःख लाभ और हानि को समान मानते हैं।¹ भगवद्गीता के अनुसार, बुद्धिमान व्यक्ति के लिए हर कोई समान है।² जब किसी व्यक्ति के पास ऐसी समान दृष्टि होती है; तो वह संभवतः किसी विशेष लिंग, जाति या समाज के एक वर्ग के प्रति पक्षपाती नहीं हो सकता। भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण के अनुसार, समानता का आदर्श पूर्ण रूप से योगी व्यक्ति के पास होता है। यहां योगी से तात्पर्य किसी ऐसे व्यक्ति से नहीं है जो योगाभ्यास करता है, बल्कि ऐसे व्यक्ति से है जो विषम परिस्थितियों में भी सम और स्थिरचित्त रहता है। ऐसा व्यक्ति अपने व्यक्तिगत अनुभव से प्रत्येक प्राणी के सुख तथा दुःख से अवगत होता है। ऐसा योगी हि पूर्णयोगी कहलाता जो अपनी तुलना से समस्त प्राणियों की उनके सुखों तथा दुःखों में वास्तविक समानता का दर्शन करता है।³ मनुष्य के सभी मतभेद शरीर पर आधारित है - अष्टावक्र गीता में भी कहा गया है शरीर के भिन्न होने के बावजूद हम सब एक हैं।⁴ इसी प्रकार किसी कपड़े में एक स्थान पर खूबसूरती से रंगे हुए फूल दिखाई देते हैं और दूसरे स्थान पर वह साधारण सफेद रंग का होता है। परन्तु उसमें प्रयोग किया जाने वाला धागा दोनों स्थानों पर एक ही है। अपने विविध रूपों के बावजूद कपड़ा एक ही धागे के समूह से बना रहता है। इसी प्रकार से यह विविध संसार उस ईश्वर की एक ही दिव्यता से बना है।⁵

भगवद्गीता के तीसरे अध्याय के 20वें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण राजा जनक का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्ति रहित कर्म द्वारा ही परमसिद्धि को प्राप्त हुए थे। वे वेदानुमोदित कर्म करने के लिए बाध्य नहीं थे। परन्तु सामान्यजनों के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करने के उद्देश्य से सभी कर्म आसक्तिरहित होकर करते रहे। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि सामान्य जनों को शिक्षित करने की दृष्टि से तुम्हें कर्म करना चाहिए।⁶ जनकादि अनेक महापुरुषों ने न केवल घोर तपस्या की अपितु प्रजा जनों की भलाई के लिए अपना अमूल्य समय लगाकर अपने जीवन को और भी अधिक सफल बनाया है। सफल परोपकारी होने के लिए किसी भी मनुष्य में इन तीन गुणों का होना परम आवश्यक है, यथा-उद्योगी (Industrious) सहयोगी (Co-operative)

व उपयोगी (Beneficial) समाज में प्रत्येक सामाजिक प्राणी को इन उपयोगी गुणों को यथाशक्ति अपने जीवन में ढालने का पुरुषार्थ करना चाहिए, जिससे वह स्वकीय एवं परकीय को लाभान्वित कर सके। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज के बिना वह नहीं रह सकता क्योंकि उसका मन नाना प्रकार की इच्छाओं से लिप्त है। जिनकी पूर्ति के लिए उसे अनेक प्राणी-पदार्थों की सहायता की आवश्यकता अनिवार्य रूप से प्रतीत होती है। मनुष्य के लिए यह आवश्यक होता है कि वह अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए सर्वप्रथम दूसरों के स्वार्थ को पूरा करने के लिए कटिबद्ध हो जाये। यदि वह केवल अपने लिये ही योजनाएं बनाता रहेगा और दूसरों का हित करने में कष्ट अनुभव करेगा। तो दिन-प्रतिदिन उसके मन में एक विचित्र प्रकार का संघर्ष चलता ही रहेगा। इसीलिए मनुष्य को आसक्ति रहित होकर दूसरों के कल्याणार्थ कर्म करने वाला होना चाहिए। इसी प्रसंग में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, जो मनुष्य सब कर्मों को परमात्मा को अर्पण करके व आसक्ति का त्याग करके कर्म करता है वह पुरुष जल में कमल के पते के समान पाप से लिप्त नहीं होता।⁷

निःसन्देह मनुष्य योनि कर्म प्रधान योनि मानी जाती है। इसी योनि में मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के कर्म करने के लिये बाध्य हो जाता है। यदि मनुष्य अपने मन के अधीन होकर कर्म करता है तो उसके संस्कार भस्मीभूत होने की अपेक्षा दिन-प्रतिदिन बढ़ते ही चले जायेंगे और ऐसा व्यक्ति सदैव निराशा, हताशा एवं उदासी के आवरण से घिरा रहेगा। मनुष्य को दैनिक कर्म अपनी निकृष्ट वासनाओं को दृष्टिकोण में रखकर नहीं करने चाहिए अपितु ईश्वर की आज्ञा समझकर उनकी शुभ प्रेरणा ग्रहण करके मानव कल्याण के लिए अनासक्त होकर कर्म करना चाहिए। निष्काम भावना से किये गये कार्य मानव के अन्तःकरण को शुद्ध करते हैं।

भगवद्गीता के अनुसार एक सच्चा योगी अपनी चेतना को भगवान के साथ एकीकृत करके समान दृष्टि से सभी जीवों में ईश्वर और ईश्वर को सभी जीवों में देखता है⁸ अर्थात् जिस प्रकार दीपावली के उत्सव में बाजार में दुकानों पर चीनी से बनी हुई अनेक प्रकार की मिठाईयों को हाथी, कार, गेंद आदि का आकार देकर बेचा जाता है। बालक अपने अभिभावकों से कार, हाथी आदि की आकृतियों से बनी हुई इन मिठाईयों को खरीदने की हठ करते हैं। अभिभावक उनकी इस नासमझी पर हंसते हैं क्योंकि सभी खिलौने एक ही प्रकार की चीनी व सामग्री से बने हैं व सबकी मिठास भी एक ही समान है। इसी प्रकार से सभी पदार्थों में प्रकट घटकों में भगवान अपनी विभिन्न शक्तियों के रूप में स्वयं रहते हैं। जिस प्रकार सूर्य एक स्थान पर स्थिर रहता और अपना प्रकाश सब जगह फैला देता है। उसी प्रकार से भगवान अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा सभी जगह व्याप्त रहते हैं व सभी का पोषण करते हैं। इस प्रकार से पूर्ण सिद्ध योगी दिव्य ज्ञान के प्रकाश में सभी वस्तुओं को भगवान से जुड़ा हुआ मानता है।

भगवद्गीता में 18वें अध्याय के श्लोक 48 के अनुसार जो कर्म सहज है, अर्थात् जन्म से ही गुण-कर्म-विभागानुसार नियत हो गया है, वह दोष से युक्त हो तो भी उसे नहीं छोड़ना चाहिए। क्योंकि सभी प्रकार के उद्योग किसी न किसी बुराई से आवृत रहते हैं। जैसे आग धुंए से घिरी रहती है। कर्ममात्र में दोष आ ही जाता है तथापि स्वभाव के अनुसार शास्त्र ने जिस वर्ण के लिए जिन कर्मों की आज्ञा दी है। उन कर्मों को अपने स्वार्थ और अभिमान का त्याग करके यदि केवल दूसरों के हित के लिए किया जाए तो उस व्यक्ति को कर्मों का दोष नहीं लगता। अर्थात् कभी-कभी मनुष्य अपने कर्तव्य का पालन करने से पीछे हटता है क्योंकि वो उसे दोषयुक्त देखता है। यहां भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि कोई भी कार्य दोषरहित नहीं है। जिस प्रकार स्वाभाविक रूप से धुंआ अग्नि के ऊपर रहता है। उदाहरण के लिए यदि कृषि के लिए खेत जोतते हैं तब हम असंख्य सूक्ष्मजीवों को नष्ट करते हैं।

यदि व्यापार में प्रतिस्पर्धा करते हुए सफलता प्राप्त करते हैं तब हम अन्य लोगों को धन सम्पदा से वंचित करते हैं। जब व्यक्ति भोजन ग्रहण करता है तो वह दूसरे को भोजन से वंचित करता है क्योंकि स्वधर्म क्रियाशीलता पर बल देता है इसीलिए यह दोषों से रहित नहीं हो सकता। परन्तु स्वधर्म के लाभ उसके दोषों से अधिक होते हैं। उदाहरण के लिए मार्क अलबियन जो हार्वर्ड बिजनेस स्कूल के प्राध्यापक थे। उन्होंने 'मेकिंग ए लाइफ मेकिंग ए लिविंग' नामक पुस्तक में लिखा है कि उन्होंने अपने एक अध्ययन के अन्तर्गत वर्ष 1960 से 1980 तक के समय में 1500 विद्यार्थियों को पढ़ाया। आरम्भ में विद्यार्थियों के दो समूह बनाये गये। 'A' श्रेणी में उन विद्यार्थियों को रखा गया जो अपने जीवन में अतिशीघ्र धनार्जन करना चाहते थे। जिससे कि वे अपने वित्तीय योजनाओं पर ध्यान देने के पश्चात् अपनी सभी इच्छाओं की पूर्ति कर सकें। इस श्रेणी में 83 प्रतिशत विद्यार्थी शामिल हुए। दूसरी श्रेणी 'B' श्रेणी में उन विद्यार्थियों को रखा गया जो सर्वप्रथम अपनी रुचि और हित के कार्यों में संलग्न होना चाहते थे। उसी के अनुसार उन्होंने प्रयास किये क्योंकि उन्हें विश्वास था कि ऐसा करने से धन सम्पदा स्वयं ही उन्हें प्राप्त हो जाएगी। इस श्रेणी में केवल 17 प्रतिशत विद्यार्थी शामिल हुए। 20 वर्षों के पश्चात् जो लोग करोड़पति बने उनमें केवल एक विद्यार्थी 'A' श्रेणी से था जोकि पहले धनोपार्जन करना चाहते थे। बाकि सभी 'B' श्रेणी से थे। जिन्होंने सर्वप्रथम अपनी रुचि के अनुसार कार्य सम्पन्न किए थे। अधिक संख्या में धनवान छात्राओं ने अपने कार्यों के प्रति कृतज्ञता प्रकट की जिनको सम्पन्न करने में वो तल्लीनता से व्यस्त रहे। इस प्रयोग से मार्क अलबियन इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि अधिकतर लोग यही मानते हैं कि कार्य और मनोरंजन के बीच में अन्तर है। लेकिन यदि वो अपनी पसंद का कार्य करते हैं। तब कार्य मनोरंजन बन जाता है और फिर उन्हें अपने जीवन में कभी अपने काम को अगले दिन के लिए टालना नहीं पड़ता। इसी प्रकार भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को ऐसे कर्म को करने और उसका त्याग न करने का उपदेश देते हैं जो उसके स्वभाव के अनुकूल हो, भले ही वह दोषपूर्ण क्यों न हो। लेकिन कार्य को उन्नत करने के लिए उसे सम्पूर्ण चेतना के साथ सम्पन्न करना चाहिए।

इसी प्रकार जो केवल शरीर निर्वाह के लिए कर्म करता है उसे भी पाप नहीं लगता। भगवद्गीता के चौथे अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं ऐसे ज्ञानीजन फल की आकांक्षाओं और स्वामित्व की भावना से मुक्त होकर अपने मन और बुद्धि को संयमित रखते हैं और शरीर से कर्म करते हुए भी पाप के भागीदार नहीं बनते।⁹ अर्थात् सांसारिक नियमों के अनुसार दुर्घटनावश घटित हिंसक कार्यों को दण्डनीय अपराध नहीं माना जाता। यदि कोई अपने क्षेत्र में निर्धारित गति पर और ध्यानपूर्वक अपना वाहन चला रहा है परन्तु अचानक से कोई सामने से आकर उसके वाहन से टकरा जाए तो न्यायिक कानून में इसे तब तक अपराध की श्रेणी में नहीं रखा जाता जब तक कि यह सिद्ध न हो जाए कि वाहन के चालक ने उसे मारने की इच्छा की थी। इसलिए मानसिक इच्छा को ही महत्वपूर्ण माना जाता है न कि कर्म के परिणाम को सामान रूप से तत्त्वदर्शी जो दिव्य चेतना से युक्त होकर कर्म करते हैं। वे सभी प्रकार के पापों से मुक्त होते हैं। क्योंकि उनका मन आसक्ति और स्वामित्व की भावना से रहित होता है।

समतामूलक समाज की स्थापना वर्ण व्यवस्था के उचित क्रियान्वयन के बिना सम्भव नहीं है। भगवद्गीता में सभी वर्णों के कर्मों का वर्णन किया गया है¹⁰ तथा कहा गया है - अपने-अपने कर्म के गुणों से उत्पन्न अपने कर्तव्यों का पालन करने से मनुष्य पूर्णता को प्राप्त कर सकता है।¹¹ स्वधर्म मनुष्य के गुणों व उसके जीवन की अवस्थाओं पर आधारित निर्धारित कर्तव्य है। इन्हें सम्पन्न करना यह सुनिश्चित करता है कि हम अपने शरीर और

मन की शक्तियों का प्रयोग रचनात्मक और लाभदायक तरीके से करते हैं। यह व्यक्ति को विकास और शुद्धिकरण की ओर ले जाता है तथा समाज के लिए कल्याणकारी होता है। चूंकि मनुष्य द्वारा निर्धारित कर्तव्य उसके जन्मजात गुणों के अनुसार ही होते हैं। इसलिए इनका निर्वहन करने में व्यक्ति स्वयं को संतुलित और सहज अनुभव करता है। जब भी व्यक्ति की क्षमता बढ़ जाती है तो वह स्वधर्म में परिवर्तित हो जाती है। जिससे मनुष्य अपने उत्तरदायित्व का निष्ठापूर्वक निर्वहन कर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता है। भगवद्गीता में विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि गीता गुण एवं स्वभाव के आधार पर वर्ण व्यवस्था की बात करती है न कि जन्म के आधार पर।¹²

वेदों में मनुष्य को वर्ण के अनुसार चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है। यह वर्गीकरण मनुष्य के जन्म के अनुसार न होकर उनकी प्रकृति के अनुसार किया गया है। साम्यवादी राष्ट्रों में जहां समानता का सिद्धान्त प्रमुख हैं वहां भी मानव समाज में विभिन्नताओं को नकारा नहीं जा सकता। वहां कुछ ऐसे दार्शनिक हैं जो साम्यवादी दल के प्रमुख योजनाकार हैं। कुछ मनुष्य सैनिक के रूप में अपने देश की रक्षा करते हैं। कुछ किसान भी हैं वैदिक साहित्य में इन श्रेणियों का और अधिक वैज्ञानिक तरीके से उल्लेख किया गया है। वहां कहा गया है कि प्रकृति की शक्ति द्वारा तीन गुण निर्मित होते हैं - सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। ब्राह्मणों में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है। वे विद्या ओर पूजा की ओर प्रवृत्त होते हैं। जिनमें रजोगुण की प्रधानता होती है वो क्षत्रिय कहलाते हैं जो प्रशासन और प्रबंध संबंधी कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। वैश्यों में तमोगुण व रजोगुण मिश्रित होते हैं। जिसके अनुसार वो व्यवसायिक और कृषि संबंधी कार्य करते हैं। जिनमें तमोगुण की प्रधानता होती है वे शूद्र कहलाते हैं। इन्हें श्रमिक वर्ग के अन्तर्गत माना जाता है। इस वर्गीकरण का कोई भी संबंध जन्म से नहीं था, न ही यह अपरिवर्तनीय था। भगवान श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता के चौथे अध्याय के 13वें श्लोक में स्पष्ट किया है कि इस वर्णाश्रम व्यवस्था का वर्गीकरण लोगों के गुणों व कर्मों के अनुसार था। यद्यपि भगवान संसार के रचना कर्ता हैं किन्तु वे भी अकर्ता हैं जैसे वर्षा का जल जंगलों में, पौधों में समान रूप से गिरता है। परन्तु कुछ बीजों से बरगद के वृक्ष उत्पन्न होते हैं। कुछ से पुष्प खिलते हैं और कहीं-कहीं पर कांटेदार झाड़ियां उग आती हैं। वर्षा बिना किसी भेदभाव के अपना जल सभी को प्रदान करती है। वह उस भिन्नता के लिए उत्तरदायी नहीं होती। इसी प्रकार से ईश्वर भी जीवात्माओं को अपना-अपना कर्म करने के लिए शक्ति प्रदान करते हैं जिससे वो अपनी इच्छा के अनुसार इसका प्रयोग करने का निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र हैं किन्तु ईश्वर उनके कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं होते।

आधुनिक समय में मनुष्य के साथ समस्या यही है कि वह संस्कृति, धर्म, जाति, राष्ट्रीयता आदि कृत्रिम भेदभाव के आधार पर जीवन यापन करता है। इन भेद-भावों को दूर करने तथा दो अलग-अलग व्यक्तियों के साथ समान व्यवहार करने की क्षमता ही समानता की अवधारणा का प्रथम सोपान है। समानता के भाव का उच्चतम स्तर दूसरों को अपने समान मानना तथा प्रत्येक परिस्थिति में समत्वभाव को बनाए रखने की क्षमता है। मानव मन समानता के इस उच्चतम स्तर को प्राप्त करने में बाधा उत्पन्न करता है। जो कि विभाजित करने के लिए प्रशिक्षित हैं व्यक्ति को अपने को प्रभावी होने की अनुमति देने के अतिरिक्त इसे अपने अधीन रखने में सक्षम होना चाहिए। अतः जिस प्रकार से भगवद्गीता में अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण के उपदेशों को आत्मसात् करके लोक लोकान्तर में अपने यश व कीर्ति को अक्षुण्ण बनाया उसी प्रकार से आज के समाज में भी भगवद्गीता के सन्देशों की सर्वाधिक उपादेयता है। भगवद्गीता के उपदेश अन्धकार व अज्ञान की ओर अग्रसर समाज को ज्ञान रूपी प्रकाश पुंज से

प्रकाशित करने का कार्य करते हैं। इसके साथ ही विभिन्न भ्रान्तियों से विभक्त हुए समाज को समानता के सूत्र में बांधने का कार्य भी करते हैं। भगवद्गीता के यह उपदेश समतामूलक समाज की स्थापना के लिए परम आवश्यक है।
संदर्भ

1. श्रीमद्भगवद्गीता 2.38: सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
2. वही, 5.18, विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥
3. वही, 6.32, आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः ॥
4. अष्टावक्र गीता, 2.12 एको अहं देहवानपि
5. अष्टावक्र गीता, 2.5 तन्तुमात्रो भवेदेव परो यद्वद्विचारितः ।
आत्मातन्मात्रं एवदं तद्वद्विश्वं विचारितम् ॥
6. भगवद्गीता-3.20 कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥
7. भगवद्गीता 5.10, ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रनिवाम्भसा ॥
8. भगवद्गीता 6.29, सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
9. भगवद्गीता 4.21, निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शरीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
10. भगवद्गीता, 18.45, स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
11. वही, 18.41-44
12. भगवद्गीता-4.13, चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।